लेख

मर्दों का इससे क्या लेना देना?

राहुल रॉय

मैं शांति से बैठ कर अपनी नई फ़िल्म पूरी करने की कोशिश कर रहा था और अपने आपसे वादा किया था कि हाथ में लिए काम पर एकाग्र रहूंगा और ध्यान इधर-उधर भटकने नहीं दूंगा। लेकिन बस, बहुत हुआ!

मुझे यह देख कर बहुत धक्का लगा और निराशा हुई कि किस तरह से मर्दों ने एक 'प्रोटेस्ट' को हथिया लिया, जो शायद औरतों के दिल से निकला बहुत अहम भावोद्गार हो सकता था या शायद अब भी है। वे औरतें, जिन्होंने कभी अपने सपने में भी नहीं सोचा होगा कि पुलिस डंडे लेकर उन्हें खदेड़ेगी या वे पानी की तेज़ बौछारों का सामना करेंगी। मुझे यकीन है कि दिल्ली की अनेक युवा लड़कियों के लिए यह अचानक बड़े हो जाने का क्षण था।

मुझे मालूम है कि रायसीना पहाड़ी पर इधर से उधर दौड़ती मध्यवर्गीय औरतों के बारे में और इस सबसे क्या होता है को लेकर काफ़ी बख़िए उधेड़े गए हैं। मैं कहता हूं, होता है।

अगली बार जब वे छत्तीसगढ़ या उड़ीसा में पुलिस द्वारा आदिवासियों को खदेड़ते देखेंगी तो घंटी बजेगी।

घंटी बज चुकी है।

आज लेडी श्री राम कॉलेज की एक उन्नीस वर्षीया छात्रा का लेख छपा है जिसने संसद भवन पुलिस थाने में पुलिस के साथ अपनी भिड़न्त के बारे में लिखा है। उसने एक अहम टिप्पणी की है कि अगर दिल्ली के नाम-गिरामी घरों की लड़कियों के साथ ये इस तरह का बर्ताव कर सकते हैं तो भारत के दूर-दराज़ के छोटे शहरों, कस्बों में क्या होता होगा?

इंडिया गेट पर हज़ारों युवा लड़कियां अपने आप एक जुट हो गईं और जिसमें उनकी मांओं ने उनका साथ दिया, यह अपने आपमें एक बहुत बड़ी बात है। पितृसत्ता के ख़िलाफ़ लड़ाई को कभी इतनी अहमियत नहीं दी गई जितनी कि वर्ग और पूंजीवाद के ख़िलाफ़ लड़ाई को और जिस बात को बड़ी सहूलियत से भुला दिया गया वह है कि पितृसत्ता और पूंजीवाद के बीच का सीधा और सहज रिश्ता।

सच्चाई यह है कि मर्द तय करते हैं कि क्या अहम है और क्या नहीं। यह भी सच है कि जेंडर के सवाल को वर्ग संघर्ष के पुरोधा आमतौर पर नज़रअंदाज़ करते रहे हैं। पूरी दुनिया में समाजवादी आंदोलन अपने आरंभ से ही इस कलंक को ढो रहा है।

जो वामपंथी पार्टियां आज इस आंदोलन की अग्रिम पंक्ति में हैं उनकी अनेक युवा महिला सदस्यों ने कई मौक़ों पर मुझे बताया है कि किस तरह से उन्हें अपने पुरुष कॉमरेडों के नारीद्वेष का सामना करना पड़ता है। मेरे विचार से समय आ गया है कि न सिर्फ़ सरकारी आक़ा अपनी लिंगवादी पितृसत्तात्मक और नारी विरोधी मानसिकता के बारे में सोचें बल्कि पार्टी और ग़ैर पार्टी वाले वामपंथी भी सोंचे, जो यह छवि पेश करते हैं कि वे पितृसत्ता के प्रभाव से आज़ाद है लेकिन दरअसल में वे इस रोग से जकड़े हुए हैं। अपने सोच और रवैयों में वे किसी अन्य राजनैतिक समूह से ज़रा भी अलग नहीं हैं।

मैं जानता हूं कि मेरे बहुत से वामपंथी दोस्त इससे नाखुश होंगे लेकिन मैं यह भी जानता हूं कि इन संस्थाओं की बहुत सी औरतें मन ही मन मुझसे सहमत होंगी। आज के संदर्भ में मेरा यह मुद्दा उठाना शायद कुछ अजीब और ग़ैरवाजिब लगे जबकि ध्यान उस भयानक बलात्कार मामले की तरफ़ है जिसने दिल्ली की बड़ी आबादी को हिला दिया है। मैं

मानता हूं कि हम सरकार से सुधार के उपायों और जवाबों की मांग करें इससे पहले हमें ख़ुद अपने घरों में झांकना चाहिए कि हम कितनी गड़बड़ी पर पर्दा डाले हुए हैं।

दिल्ली विरोध प्रदर्शन का विश्लेषण करने वाले लेखन में दो तरह की प्रतिक्रियाएं ज़्यादा साफ़ नज़र आ रही हैं। एक तो यह कि यह सिर्फ़ मध्यवर्गीय बच्चों का झुंड है, जो अपने जैसी ही एक लड़की के साथ हुए हादसे और जो उनके साथ भी हो सकता था, से उत्तेजित हो गए हैं। इसलिए दरअसल में यह विरोध पितृसत्ता और उसकी सभी बुराइयों पर सवाल नहीं है बल्कि वर्ग आधारित एकता है।

दूसरी राय जो सुनने में आ रही है वह है कि देखो, हम कब से गुजरात, कश्मीर, मणिपुर और दलित औरतों के संदर्भ में बलात्कार का मुद्दा उठाते रहे हैं लेकिन दिल्ली में विरोध प्रदर्शनों में मुट्ठी भर लोग ही जुट पाते थे। इसलिए यह विरोध प्रदर्शन वास्तव में बलात्कार की सख़्त सच्चाइयों के बारे में नहीं है बल्कि कुछ शौकीनों की भड़ास है जिनके पास कोई निश्चित नज़रिया नहीं है और वे मृत्युदंड या भीड़ द्वारा इंसाफ़ जैसी ख़तरनाक मांगे कर रहे हैं।

पिछले तीन दशकों से दिल्ली की वामपंथी राजनीति को क़रीब से जानते और उसमें प्रायः सहभागिता निभाने के दौरान जो चीज़ मुझे परेशान करती रही है वह है कि हम नैतिक बड़प्पन का ढोंग किए घूम रहे हैं और उसी के नीचे दब कर रह गए हैं। प्रत्येक विरोध प्रदर्शन को राजनैतिक स्पष्टता, उचितता और वर्ग संयोजन के आधार पर वैज्ञानिक जांच से गुज़ारा जाना चाहिए और उसे उसमें पूरी तरह खरा उतरना चाहिए वरना वह इतिहास के कूड़ेदान का हिस्सा बन जाएगा।

वामपंथी राजनीति वर्ग के दृष्टिकोण से कहां ठहरती है? क्या उसे गुजरात कांड पर आई सभी रिपोर्टों और भगवा टोली द्वारा करवाए गए सामूहिक यौन हमलों की जानकारी है? क्या उन्हें पिछले चालीस वर्षों में देश में चली सभी जेंडर चर्चाओं के बारे में पता है? और हां, उनके अपने भीतर वर्ग स्थिति का टेढ़ा सवाल, जिस पर दरअसल सवाल उठाया ही नहीं जा सकता क्योंकि उन्होंने तो दुनिया की सभी समस्याओं के हल देने वाला धर्म ढूंढ कर अपने सभी पाप धो लिए हैं और पाक-साफ़ हो चुके हैं।

इन सभी बातों पर मैं सिर्फ़ इतना ही कहना चाहूंगा कि आपके सामने एक बहुत बड़ा और असली ख़तरा है कि आप विश्व में तेज़ी से खत्म हो रहे वामपंथी कूड़ेदान के इतिहास के बचे खुचे ढेर में सबसे नीचे होंगे। एक दोस्त और हमसफ़र के नाते मैं आपको यही सबसे अच्छी राय दे सकता हूं कि पितृसत्ता और उसका असंतोष उतना ही गंभीर मुद्दा है जितना वर्ग और उससे जुड़े संघर्ष का। मैं जानता हूं कि कुछ लोग पलट कर तुरंत वही घिसा-पिटा वामपंथी तर्क देंगे कि औरतों का दमन, पूंजीवाद और निजी सम्पत्ति का हिस्सा है। उनकी अंतिम मुक्ति तभी हो सकती है जब उनके दमन के औज़ारों को उखाड़ फेंका जाएगा। मेरी उन सबसे यह विनम्र गुज़ारिश है कि जब तक हम क्रांति आने का इंतज़ार करते हैं उन्हें अपने घरों में, पार्टियों में कुछ बदलाव लाने से कौन रोक रहा है? अगर 50% इंसान औरतें (भारत में काफ़ी कम) हैं तो आख़िर उन्हें चैन की सांच लेने के लिए पूंजीवाद के ख़त्म होने का इंतज़ार क्यों करना पड़ेगा?

शायद यह उकसाने वाली बात लगे लेकिन मुझे लगता है कि इसे परखना चाहिए कि औरतों का सवाल हमेशा ही वर्ग के सवाल से कम महत्वपूर्ण क्यों रहा है? पुरुषों के लिए वर्ग ही सब कुछ क्यों है चाहे पिछले सौ सालों में उसके हर सूक्ष्म भेद को, रेशे को समझ लिया है।

मैं यह भी अच्छी तरह से जानता हूं कि 'औरतें' शब्द शायद किसी एक समन्वित और घुली-मिली श्रेणी का नाम नहीं है। वे भी अपनी जाति, वर्ग, नृजातियता आदि से मिले अनुभवों के आधार पर बंटी हुई हैं। लेकिन फिर भी सवाल तो पितृसत्ता का है। हालांकि वर्ग, जाति वगैरह औरतों को बांटते हैं और एक दूसरे के सामने खड़ा कर देते हैं लेकिन पितृसत्ता उन्हें आपस में जोड़ती है। पितृसत्ता के उनके तजुर्बे उनमें समानुभूति का अहसास पैदा करते हैं।

जहां तक मर्दों का सवाल है वर्ग, जाति, राजनीतिक विचारधारा और सभी सामाजिक भेदभाव के बावजूद उन्हें आपस में जोड़ने वाली चीज़ है मर्दानगी। जिस तरह से मर्दागनी और उसकी बुराइयां उन्हें एकजुट करती हैं वैसे और कोई नहीं करता। मर्दानगी मर्दों की एकता का महान उत्सव है। उसकी खूबियों और क्षमताओं की प्रंशसा में बहुत सा साहित्य और इतिहास रचा गया है। लेकिन औरतों की एकता और जुड़ाव पर चुप्पी है।

यदि इंडिया गेट के युवा प्रदर्शनकर्ता राजनीतिक चेतना के तराज़ू पर हल्के पड़ते हैं तो मुझे यह कहने में कोई दिक्क़त नहीं कि जो उन पर सवाल उठाते हैं, वे ढोंगी हैं क्योंकि वे खुद भी अपनी वैचारिक परम्परा के भीतर पितृसत्ता के ख़िलाफ़ वचनबद्धता में ईमानदार नहीं रहे हैं।

हम सभी दिल्ली पुलिस नाम की बीमारी से अच्छी तरह वाक़िफ हैं। हम जानते हैं कि उनसे संस्थागत जेंडर संवेदनशीलता

की उम्मीद करना व्यर्थ है लेकिन यह उससे भी गंभीर बात है कि वे लोग और राजनीतिक मोर्चे जो मानव मुक्ति के सभी जवाब देने का वादा और दावा करते हैं खुद लिंगवादी, नारी विरोधी और स्त्री द्वेषी विचारों से मुक्त नहीं हैं।

हालांकि राज और सरकार की गंदगी हम बीच चौराहे पर धोना चाहते हैं, वामपंथियों में पितृसत्ता की बात व्यक्तिगत रूप से बंद दरवाज़ों के पीछे करना चाहते हैं, यहां तक कि संस्था के मंच पर भी नहीं। ऐसे पाखंड पर मुझे मतली होती है।

विनम्र और शैक्षिक भाषा में हम मर्दानगी को सत्ता का हक़दार समझने की सोच के रूप में परिभाषित कर सकते हैं। लेकिन अगर मैं ईमानदारी से कहूं तो यह एक विकृति है, रोग है। पिछले कुछ समय से मर्दानगी के संकट की बात करना फ़ैशन बन गया है। ख़ासतौर पर जब कुछ टिप्पणीकर्ताओं ने दिल्ली में युवा लड़की और उसके दोस्त पर हुए हमले और बलात्कार की चर्चा करते हुए यौन हिंसा या हिंसा की वर्ग से जुड़ी प्रकृति की तरफ़ इशारा किया।

सच्चाई यह है कि मर्दानगी हमेशा से संकट रही है। मर्दानगी मुसीबत के अलावा कुछ और है ही नहीं क्योंकि यह नारीत्व की कीमत पर अपने आपको ऊंचा उठाती है। यह मान कर चलती है कि मर्द होने के नाते कुछ अधिकार और सत्ता पुरुषों का हक़ है। यह तरह तरह की सुविधाओं का भंडार बना कर वर्ग, जाति, यौन प्रवृत्ति आदि के आधार पर बड़ी सफ़ाई से सभी मर्दों में बांट देती है। इन सुविधाओं के अपने-अपने हिस्सों के लिए मर्द आपस में लड़ते हैं लेकिन जब औरतों की बात आती है तो एक हो जाते है। उनकी यह एकता वर्गों, जातियों, राजनैतिक परिदृश्यों से परे जाती है सिर्फ़ इसलिए कि वे समझते हैं कि वे ब्रह्मांड का केंद्र हैं और दुनिया के लिए एक बड़ा तोहफ़ा है। प्रकृति ने उन्हें विशेष अधिकारों और सुविधाओं के साथ पैदा किया है जिनके बारे में सोचने, शंका करने या स्वयं को दोष देने की बिल्कुल ज़रूरत नहीं है।

ठीक वैसे ही जैसे औरतों के शांत विरोध प्रदर्शन को युवा मर्दों ने बड़े आराम से हथिया लिया और खुद उसके अगुवा बन बैठे, पुलिस पर पत्थर फेंकने और गाड़ियां तोड़ने लगे। वामपंथी, दक्षिणपंथी घरों में, दफ्तरों में, कारखानों में, राजनीतिक संघर्षों में मर्द सोचते और मानते हैं कि वे ख़ास हैं और अधिकार और सत्ता के लिए ही पैदा हुए हैं। इस बात से कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता कि इस बेरहम शहर में औरत होने और सार्वजनिक जगहों से निपटने का क्या मतलब है, के बारे में उनमें रत्ती भर भी समझ हो।

इस बात से भी कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता कि उनकी अपनी पार्टियां और संस्थाएं औरतों के साथ होने वाले भेदभाव की मिसाल हैं। मर्द नेता बनने और नेतृत्व करने के लिए ही बने हैं। उनके दिमाग़ में दूर-दूर तक यह विचार आना नामुमकिन है कि इस प्रदर्शन की अगुवाई औरतों को ही करनी चाहिए क्योंकि बुनियादी तौर पर वे ही रोज़मर्रा के जीवन में इस सबका सामना करती हैं। इस शहर में औरतों के लिए बलात्कार और यौन हमले का खतरा एक जीता जागता सच है और उसी रूप में मर्द उसका अहसास कभी कर नहीं सकते।

मर्दानगी का रोग, उससे जुड़ी कई और बीमारियां पैदा करता है। उनमें से दो बड़ी बीमारियां हैं यह समझना कि एक— हम सुरक्षित है, दो— हमारा कुछ नहीं बिगड़ेगा। जिन इलाकों में काफ़ी समय से संघर्ष की स्थितियां बनी हुई हैं वहां सरकार और उसके कारिंदों में दंडमुक्ति या हमारा कुछ नहीं बिगड़ेगा का रवैया दिखाई देता है। पिछले कुछ समय से लगातार इस पर चर्चा हो रही है तथापि जिस अहम बात पर ध्यान नहीं दिया गया है वह है कि सभी मर्दों को दंडमुक्ति के इस सोच का पहला पाठ ज़्यादातर हमारे घरों में पढ़ाया जाता है। घरेलू दायरे में शुरु हुआ लड़कियों व औरतों के हक़ छीनने का यह सिलसिला उनके सामाजिक जीवन के अन्य दायरों में भी जारी रहता है।

मर्दानगी, वह धारणात्मक आधार है जो मर्दों के लिए दंड मुक्ति को जायज़ बनाता है और व्यवहार में भी उतारता है। इसके कारण ही वे सोच पाते हैं कि वे सत्ता के कर्णधार हैं और जब वे इस सोच को समाहित करके चलते हैं तो सिर्फ़ अपराध ही नहीं बल्कि हर जगह अगुवाई करना, पुलिस पर पत्थर फेंकना स्वाभाविक रूप से आ जाता है। वे औरतों के ख़िलाफ़ अपराध भी उतनी ही आसानी से कर पाते हैं। असली मर्दानगी वाले मर्द बनने के लिए उनके दिल में नारीत्व के प्रति डर और नफ़रत होनी चाहिए। कहते हैं कि डर आत्मा को नष्ट कर देता है। औरतें कब से मर्दानगी के ज़हरीले असर के बारे में बताती आ रही हैं। अब वक्त है कि मर्द भी समझें कि वे ऐसी व्यवस्थाओं के संरक्षक बन कर अपने साथ क्या कर रहे हैं? ये व्यवस्थाएं उनका भला नहीं करती बल्कि उनका इस्तेमाल करती हैं कड़े अनुशासन लागू करने, लोगों को सज़ाएं देने और हालात को जैसा का तैसा बनाए रखने (वर्दी में या बग़ैर वर्दी के) के लिए। यानी उन्हें हर तरह के अन्याय का संरक्षक बना दिया जाता है।

अपनी इन सेवाओं के बदले में उन्हें घर के दायरे में औरतों को दबाने और अपने से नीचे रखने का हक़ मिलता है। घरेलू और सार्वजनिक की सीमा रेखा को बनाए रखना मुश्किल होता है इसलिए औरतें सार्वजनिक जगहों पर भी उनकी मर्दानगी का निशाना बनती हैं।

इन पिछले दस दिनों ने भारत के बलात्कार मामलों और उनके मुकद्मों के घिनौने इतिहास को दोहराने का एक मौक़ा दिया है। मथुरा से सोनी सोरी तक, पोशपोरा से मनोरमा तक, रोज़ाना की बेइज्ज़ती और सारे देश में दलित औरतों के बलात्कारों से लेकर बिल्कीस बानो तक की इन भयानक कहानियों को हमने दोबारा पढ़ा और दोबारा जीया है। ज़ाती तौर पर मुझे इन घटनाओं की प्रकृति समझने का एक ही रास्ता नज़र आता है। यह औरतों के ख़िलाफ़ जंग है जिसका लक्ष्य मर्दानगी का झंडा गाड़ना, साम्प्रदायिक बदले लेना और जातियों का दमन करना है।

बलात्कार का संबंध सिर्फ़ संभोग से नहीं है बल्कि लगभग नहीं है। यह एक आक्रमण है जो औरत के शरीर पर उनके संदेश दाग़ देता है। ऐसे संदेश जो न सिर्फ़ उसकी व्यक्तिगत पीड़ा के ज़रिए बोलते हैं बल्कि दिखाई भी देते हैं। बलात्कार इस बात का स्मारक होता कि मर्दागनी का इस्तेमाल करके क्या हासिल किया जा सकता है। जब पुरुष का लिंग अपने बड़े-बड़े काल्पनिक दावों के तराजू पर कमज़ोर पड़ जाता है तो उसके विकल्प की ज़रूरत होती है। सख़्त लोहे की छड़ शायद वह सब करने में ज़्यादा सक्षम होती है जो मर्दानगी पुरुषों को उनके लिंग से हासिल करने के लिए उकसाती है या सपने दिखाती है। लोहे की छड़ का इस्तेमाल, मुंह में बंदूक ठूसना, गुदा में पत्थर घुसाना, चाकुओं से चमड़ी उतरना ये सभी अभिव्यक्तियां हैं जिन्हें भूल से मर्दानगी के संकट का नाम दिया जा रहा है। यही मर्दानगी की प्रकृति है!

नारीद्वेष या औरतों के लिए नफ़रत मर्दानगी की इमारत का अहम आधार है। मर्दानगी एक नियंत्रक व्यवस्था है जो सुनिश्चित करती है कि सभी पदानुक्रम, घड़ी के कांटों की तरह ठीक से काम करें। यह ख़ाकी में भी दिखती है, भगवा में भी दिखती है और लाल में भी दिखाई देती है। यह अपने साथ हमेशा बग़ैर किसी चूक के हिंसा का डर/धमकी लेकर भी आती है। इसका इस्तेमाल पितृसत्ता अपनी नज़र में गुमराह औरतों को सज़ा देने के लिए भी उतना ही करती है जितना सरकारी अधिकारी छत्तीसगढ़ और उड़ीसा की प्रदर्शन करती जनता के साथ करते हैं। इसका इस्तेमाल कश्मीर के विद्रोही लोगों को यह याद दिलाने के लिए किया जाता है कि वे दबे हुए लोग हैं। इसका इस्तेमाल मर्द दिल्ली की सड़कों पर औरतों को यह याद दिलाने के लिए करते है कि वे अपनी हद पार कर रही हैं। इसका इस्तेमाल वामपंथी परम्पराओं के भीतर ऊंचे पदों पर बने रहने के लिए और अपनी महिला कॉमरेडों को बताने के लिए कि उचित वेशभूषा क्या होती है और उन्हें तसल्ली देने के लिए किया जाता है कि उनका वक्त भी आएगा जब पूंजीवाद ख़त्म हो जाएगा।

मुझे माफ़ कीजिए। ये तर्क हज़म नहीं होते। दुख की बात यह है कि जो इसके प्रभाव के चलते कष्ट उठाते हैं वही इसके झांसे में आकर इस नियंत्रण व्यवस्था के जवाब में खुद भी ऐसी व्यवस्थाएं बनाती और अपने दमनकर्ताओं की कार्बन कॉपी बन जाती हैं।

दिल्ली में चल रहा वर्तमान विरोध प्रदर्शन हम सबके लिए सामूहिक रूप से भीतरी सफ़ाई का अवसर बन गया है। एक ऐसा क्षण जब अपनी बात कह पाने और किसी को सुना पाने के लिए रोज़मर्रा औरतों को हिंसा का सामना करना पड़ रहा है। यह मदद के लिए पुकार है! आज़ादी से आने जाने के हक़ के लिए, इज़्जत की ज़िंदगी और बलात्कार के डर से मुक्ति के लिए एक क्रोधपूर्ण अभिव्यक्ति है। लेकिन इससे क्या बदलेगा?

विडम्बना यह है कि यदि इसका आयोजन और नियंत्रण स्थापित राजनीतिक पार्टियों या महिला आंदोलन के कुछ लोगों के हाथों में होता तो शायद ये अपार जनसमूह और भावनाओं का तूफान नहीं उमड़ता। शायद इसका यह असंगठित रूप ही इसके रास्ते की रुकावट बना हो। हालांकि यह कहना मुश्किल है कि यह विरोध प्रदर्शन व्यक्तिगत रूप से किस तरह से लोगों की ज़िंदगी पर असर डालेगा। संचार माध्यम तो सिर्फ़ मृत्युदंड

और बलात्कारियों के लिंग काटने जैसी अतिवादी मांगों पर कैमरे केंद्रित कर रहे हैं। दूसरी ओर कम सनसनीखेज़ लेकिन ज़्यादा अहम और रचनात्मक कथनों और मांगों की चर्चाएं जो रायसीना पहाड़ी से विजय चौक के बीच चल रही हैं, कहीं पृष्ठभूमि में दब गई हैं।

विस्फोट मंथन का समय होता है जब व्यवस्था अचानक अपनी प्रकृति प्रकट करती है। प्रदर्शनकारियों के लिए राजनीतिक सम्पर्क बनाने की संभावनाएं भी उतनी बढ़ जाती हैं। हालांकि हमें इंतज़ार करके देखना होगा कि क्या यह विरोध वैसे सम्पर्क बना पाया। क्या दिल्ली की 23 वर्षीय छात्रा, सोनी सोरी और बिल्कीस बानो की कड़ी से जुड़ पाई? जब यह जुड़ाव पैदा होता है तभी व्यवस्थित रूप से चल रहे अन्याय के ताने-बाने नज़र आते हैं। ठीक वैसे ही जैसे मथुरा बलात्कार के समय महिला आंदोलन को समझ में आया कि क़ानून और न्याय व्यवस्था हिंसा को कम करने वाली एजेन्सियां नहीं हैं बल्कि ये अन्याय, जेंडर भेदभाव और हिंसा के अखाड़े हैं। तभी समझ में आता है कि भगवा टोली ने गुजरात में बिल्कीस और बीसियों अन्य मुस्लिम औरतों को अपना निशाना क्यों बनाया? उनके नेताओं की सोच थी कि बलात्कार के बाद औरत बस एक ज़िंदा लाश रह जाती है। यह ज़िंदगी भर याद दिलाने का ज़रिया हो जाता है कि हमने "तुम्हारी" औरतों को दबाया, कुचला। कश्मीर, मणिपुर जैसे संघर्ष वाले इलाकों में बलात्कार स्थानीय लोगों को प्रतीकात्मक संदेश देता है कि याद रहे कि कौन शासक है और कौन शासित। जब दलित औरतें रोज़मर्रा गाली गलौच, यौन प्रताड़ना और बलात्कार झेलती हैं तो वह उन्हें उनकी हैसियत और दर्जा याद दिलाने के लिए होता है और यह भी कि उन्हें स्थानीय जाति बंधनों से बाहर निकलने के बारे में सपने में भी नहीं सोचना चाहिए। जब दिल्ली की चलती बस में 23 साल की छात्रा का सामूहिक बलात्कार हुआ तो यह दिल्ली की सभी औरतों के लिए याद दिलानी थी कि यह शहर मर्दों का है।

बलात्कार पितृसत्ता के भीतर कई काम करता है लेकिन उनमें एक घटक साझा होता है, वह यह कि मर्द, औरतों को दंड देते हैं। यह शायद पितृसत्ता का सबसे पुराना खेल है। बड़े मुद्दों से विरोध का जुड़ाव बने या न बने लेकिन दिल्ली की लड़कियों को हक़ है कि वे अपना विरोध जताएं और इस देश के मर्दों को याद दिलाएं कि भारतीय संविधान उन्हें समानता की गारंटी देता है।

इंडिया गेट पर युवा लड़के लड़कियों ने कुछ समय के लिए ही सही कुछ अलग ढंग की चीज़ों की झलक दिखलाई कि मर्द होते हुए भी संभव है कि वे औरतों की सुरक्षा के हक़ का समर्थन करें और उदासीन प्रशासन के विपरीत औरतों के साथ कंधे से कंधा मिला कर खड़े हों। अब तक यह प्रदर्शन बहुत महत्वपूर्ण रहा है क्योंकि इसमें बहुत बड़ी संख्या में ऐसी लड़कियों ने भागीदारी की है जो शायद पहली बार सड़कों पर उतरी हैं और उनके साथ सैकड़ों लड़कों ने भी समर्थन और समानुभूति दिखाई है। फिर भी इनमें से बहुत से युवकों को यह समझना होगा कि उन्हें सड़कों पर और धरनों में लीडरी करने की जगह अनुसरण करना सीखना चाहिए। हम सिर्फ़ उम्मीद कर सकते हैं कि इन विरोध प्रदर्शनों ने लोगों को इतनी गहराई तक छुआ होगा कि हमारे देश के घरेलू और सामाजिक दायरे जो विश्व के सबसे ख़राब आंकड़े पेश करते हैं, कुछ तो बेहतर बन सकेंगे।

तत्कालीन संदर्भ में हम प्रार्थना कर सकते हैं कि इन विरोध प्रदर्शनों को ताक़त मिले और ये उन लोगों को अलग-थलग कर सकें जो हिंसक कार्रवाइयों के द्वारा सड़क पर उतरी लड़कियों को फिर से अपने घरों के तथाकथित सुरक्षित दायरों में जाने के लिए धकिया रहे हैं। महिला समूहों तथा अन्य लोगों ने बलात्कारियों के लिए मृत्युदंड या भीड़ का इंसाफ़ जैसी अतिवादी मांगों से जुड़ी समस्याओं का खुलासा किया है। अब यह प्रदर्शनकारियों पर निर्भर करता है कि वे एकजुट होकर प्रतिक्रिया दें और ऐसी मांगे रखें जिनका गहरा और दूरगामी असर हो जैसा मथुरा बलात्कार मामले में महिला आंदोलन ने किया था। नारे और विरोध मार्चों के साथ-साथ घरों, दफ्तरों और राजनीतिक समूहों में जहां तक हो सके मर्दानगी पर सवाल उठाएं ताकि आज जो हज़ारों युवा बाहर निकले हैं वह व्यर्थ न जाए और यह विरोध जेंडर आधारित हिंसा के ख़िलाफ़ स्वतंत्र भारत का सबसे महत्वपूर्ण आंदोलन बन सके।

राहुल रॉय, *फ़िल्म निर्माता व कार्यकर्ता हैं।*

साभारः काफ़िला, दिसम्बर 28, 2012 अंग्रेज़ी से अनूदित।